जैन समाज-दर्शन

☐ **प्रो. संगमलाल पाण्डेय,** डी. लिट्.

जैनदर्शन के अनुशीलन से समाज-दर्शन के स्वरूप और आधार को जानने में बड़ी सहायता मिलती है। इस कथन को तर्कतः सिद्ध करने के लिए हम यहाँ जैनमत में उपलब्ध समाजदर्शन का विश्लेषण करेंगे और समाज के मूल उपादानों की खोज करेंगे। जैन विचारकों ने जिस समाज की अवधारणा की है उसके कुछ मूल आधार हैं जिन्हें हम यहाँ छह प्रतिष्ठाएं कहेंगे, क्योंकि 'प्रतिष्ठा' शब्द 'आधार' शब्द से अधिक सारगभित है। प्रतिष्ठा का अर्थ प्रागपेक्षा, आधार-स्तम्भ तथा मर्यादा होता है। ये छह प्रतिष्ठाएं हैं—(१) व्रत की प्रतिष्ठा, (२) श्रम की प्रतिष्ठा (३) अपरिग्रह की प्रतिष्ठा (४) अहिंसा की प्रतिष्ठा (५) अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा और (६) मानव की प्रतिष्ठा। जैनमत के अनुसार इन प्रतिष्ठाओं पर ही मानव-समाज स्थित है। अतः मानव-समाज का स्वरूप समझने के लिए इन प्रतिष्ठाओं का विश्लेषण करना आवश्यक है। इनसे सिद्ध होता है कि समाज केवल व्यक्तियों का बाह्य आरोपित संगठन नहीं है वरन् समाज व्रतधारी मानवों का अन्तःप्रतिष्ठित बाह्यस्वरूप है।

१. व्रत की प्रतिष्ठा

कुछ पश्चिमी विद्वानों का कहना है कि समाज का आधार मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ तथा सहानुभूति, करुणा आदि संवेग हैं। जैन शब्दावली में कहा जाय तो इन पश्चिमी विचारकों के अनुसार समाज का आधार कषाय है, क्योंकि मूल प्रवृत्तियां और संवेग कषाय हैं। फिर कुछ पश्चिमी विद्वान् मानते हैं कि समाज का आधार संविदा (Contract) है और कुछ मानते हैं कि समाज का आधार मनुष्य की इच्छाओं को वैधानिक ढंग से सन्तुष्ट करने वाला राज्यादेश या संविधान है। किन्तु इन मतों के विपरीत जैनदर्शन मानता है कि समाज का मूलाधार व्रत है। प्रत्येक मनुष्य अपने तथा अन्य मनुष्यों के विकास के लिए कुछ व्रत लेता है। ऐसे व्रत बारह हैं। इनमें पांच अणुव्रत हैं, तीन गुणव्रत हैं और चार शिक्षाव्रत हैं। ये बारह व्रत श्रावकाचार हैं अर्थात् साधारण मनुष्य के आचार हैं। इन व्रतों से मनुष्य अपनी जन्मजात प्रवृत्तियों, भावनाओं और इच्छाओं पर अंकुश लगाता है—उनका परिमार्जन तथा परिष्कार करता है तथा अपनी प्रवृत्ति और निवृत्ति का सम्यक् प्रयोग करता है। इन्हीं व्रतों के फलस्वरूप एक ओर मनुष्य अपने को सच्चरित्र और सदाचारी बनाता है तथा दूसरी ओर वह समाज के स्वरूप का प्रादुर्भाव करता है। समाज मनुष्य की संस्कारित इच्छा का परिणाम है। फिर वह प्रत्येक मनुष्य की संस्कारित इच्छा का परिणाम है न कि मनुष्यों के प्रतिनिधियों की इच्छा का परिणाम है। अतएव समाज का आधार कषाय नहीं अपितु कषायाभाव है। इसी कषायाभाव को जैन-दर्शन में गुणस्थान कहा गया है। गुणस्थान चौदह है। ये व्यक्ति के विकास की भूमिकाएँ हैं और साथ ही समाज की विभिन्न संस्थाओं की आधारशिलाएँ भी हैं। वास्तव में गुणस्थान में श्रावकाचार और श्रमणाचार दोनों सम्मिलित हैं। प्रायः समाज का सम्बन्ध श्रावकाचार से

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिक जोड़ा जाता है। परन्तु जैसा आगे कहा जायेगा श्रमणाचार भी समाज के लिए विशेषरूप से आवश्यक है। अतः सम्पूर्ण गुणस्थानों का समाज में महत्त्व है। ये व्रत की संस्था के विकास की अवस्थाएँ हैं।

जैनदर्शन के अनुसार जो व्रती नहीं है वह धार्मिक नहीं हो सकता। व्रत धर्म की प्रथम आवश्यकता है। इसी प्रकार वह समाज की प्रथम आधारशिला या प्रतिष्ठा है। व्रत का अर्थ है वरण किया हुआ या ऐच्छिक। समाज ऐच्छिक है, वह स्वयंभू या नैसर्गिक नहीं है। वह मनुष्यों की इच्छा से जन्य है। प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा से उसका वरण या चयन करता है। व्रती, व्रत और व्रात (संगठन)—ये तीन इच्छा—जगत् के आवासी तथ्य हैं। मनुष्य और समाज के बीच जो वास्तविक सम्बन्ध है वह व्रत है। यदि हम व्रत नहीं करते तो हम अपने को सामाजिक नहीं बना सकते। इस प्रकार जैसे धार्मिक होने के लिए, वैसे सामाजिक होने के लिए भी व्रत लेना आवश्यक है।

यहाँ यह उल्लेख-योग्य है कि समाज में वही संस्था या रीति-नीति चलती है जिसके लिए लोग व्रत या संकल्प करते हैं। यदि किसी अच्छे नियम का पालन करने के लिए अधिसंख्यक लोग व्रत और संकल्प न करें तो वह नियम धर्म-ग्रन्थों अथवा संविधान या कानून की पुस्तकों में ही बन्द रह जायगा और उनके अनुसार समाज में व्यवस्था या कार्य नहीं होगा। इस प्रकार यदि तर्क-दृष्टि से देखा जाय तो सिद्ध होता है कि जैनियों का यह कहना बिल्कुल सत्य है कि व्रत ही समाज की आद्य प्रतिष्ठा है।

२. श्रम की प्रतिष्ठा

जैन दर्शन ने व्रत की प्रतिष्ठा के अनन्तर श्रम को महत्त्व दिया है। प्रत्येक मनुष्य के लिए श्रम करना आवश्यक है। श्रम अर्थमात्र का मूल है, किन्तु वह मात्र शारीरिक श्रम नहीं है। वह शारीरिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक—तीन प्रकार का माना गया है। शारीरिक श्रम शरीर से होता है और स्थूल है। बौद्धिक श्रम बुद्धि से होता है और सूक्ष्म है। स्वाध्याय और मनन उसके दो प्रकार हैं। इनसे भिन्न आध्यात्मिक श्रम है जो अतिसूक्ष्म है और जो आत्मा के द्वारा सम्पन्न होता है। जब तक मनुष्य बाह्य विषयों की ओर उन्मुख रहता है और उन्हीं का ध्यान-चिन्तन करता रहता है तब तक उसकी आत्मा बहिरात्मा है। फिर जब वह सम्यक् दृष्टि प्राप्त करके आन्तरिक भाव, इच्छा और ज्ञान के जगत् का अनुचिन्तन करता है तब उसकी आत्मा अन्तरात्मा हो जाती है। अन्त में पुनः जब वह बहिः और अन्तः के द्वन्द्व से ऊपर उठकर स्थितप्रज्ञ होता है तब उसकी आत्मा परमात्मा हो जाती है। बहिरात्मा से परमात्मा होने तक पहले बौद्धिक श्रम होता है और अन्त में आध्यात्मिक श्रम। शारीरिक श्रम करने वाले श्रमिक कहे जाते हैं और आध्यात्मिक श्रम करने वाले श्रमण। इनके मध्य में बौद्धिक श्रम करने वाले हैं जिन्हें श्रुतिधर, आचार्य या उपाध्याय कहा जाता है।

शारीरिक श्रम करने वाले को कम पुरस्कार, अर्थ या महत्त्व दिया जाय और बौद्धिक तथा आध्यात्मिक श्रम करने वाले को अधिक दिया जाय—ऐसा जैनमत नहीं कहता है। उसका मत है कि आध्यात्मिक श्रम करने वालों के पास बिल्कुल अर्थ नहीं रहना चाहिए, बौद्धिक श्रम करने वालों के पास आवश्यकता से अधिक अर्थ नहीं होना चाहिए और शारीरिक श्रम करने वालों के पास सबसे अधिक अर्थ (धन) होना चाहिए। इस प्रकार जैनमत उस अर्थव्यवस्था

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का विरोधी है जिसमें श्रमिक को पेटभर भोजन करने के लिए भी अर्थ नहीं मिलता है। वह ऐसी अर्थव्यवस्था का हिमायती है जिसमें प्रत्येक श्रमिक को पर्याप्त अर्थ मिले। इस व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए गुणव्रत और शिक्षाव्रत का विधान किया गया है। शिक्षाव्रत में सामायिकव्रत, देशावकाशिकव्रत, पौषधोपवास व्रत तथा अतिथिसंविभागव्रत हैं जिनके बारे में जैनमत के ज्ञाताओं को अच्छी तरह जानकारी है।

३. अपरिग्रह की प्रतिष्ठा

जैनमत का निश्चित मत है कि आध्यात्मिक श्रम करने वाले को पूर्ण अपरिग्रह का पालन करना है। अपरिग्रह का सिद्धान्त जैनमत के अनुसार समाज की धुरी है। सभी लोग परिग्रह के इर्द-गिर्द रहते हैं, किन्तु जो लोग इससे पूर्ण विरक्त और अनासक्त हो जाते हैं, जो लोग त्याग करते हैं, वे ही समाज की व्यवस्था के संचालक होते हैं। उनके लिए अपरिग्रह का अर्थ सर्वपरिग्रह से विरमण है। उनके लिए अपरिग्रह महाव्रत है। बौद्धिकों के लिए यह महाव्रत नहीं है, उनके लिए यह एक अणुव्रत है। परन्तु अणुव्रत क्या सभी मनुष्यों के लिए नहीं है? अतः प्रश्न उठता है कि बौद्धिकों के लिए अणुव्रत से अधिक और क्या कर्त्तव्य है? इसके उत्तर में जैनदार्शनिक गुणव्रत का प्रावधान करते हैं। गुणव्रत तीन हैं—दिशापरिमाणव्रत, उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत और अनर्थदण्डविरमण व्रत। ये तीनों व्रत विशेषतः अपरिग्रह में सहायक हैं। इनके पालन से सिद्ध होता है कि बौद्धिकों को सामान्य जनों से अधिक अपरिग्रह करना चाहिए। समाज-सेवी में साधारण सामाजिक से अधिक त्याग होना चाहिए। इसका उल्टा उचित नहीं है।

परिग्रह या अर्थसंग्रह ऐसा विषय है जिसको समाज केवल व्यक्ति की इच्छा पर छोड़ नहीं सकता। वास्तव में अर्थ समाज का होता है और इसलिए उसके उत्पादन तथा वितरण का भार भी समाज के ऊपर रहता है। अर्थ की व्यवस्था के लिए समाज उद्योग तथा राज्य का निर्माण करता है। राज्य को अपनी व्यवस्था के लिए कर-व्यवस्था स्थापित करनी पड़ती है। जैनमत के अनुसार राज्य को नागरिकों की सम्पत्ति और आय पर कर लगाने का अधिकार है और नागरिकों का कर्त्तव्य है कि वे अपनी संग्रह-प्रवृत्ति को मर्यादित करें। राज्य और नागरिक दोनों अपनी मर्यादा के अन्दर ही अर्थ-संग्रह कर सकते हैं। जैसे मर्यादा से अधिक अर्थ-संग्रह करने वाला नागरिक जघन्य है वैसे ही वह राज्य भी जघन्य है जिसमें प्रजा को आर्थिक कष्ट रहता है और उस पर भी जो राज्य प्रजा से अर्थ-कर वसूलता रहता है। राज्य का मूल प्रकार्य (फंक्शन) प्रजा का हित करना है। यही प्रकार्य उसके अस्तित्व का लक्षण भी है। इस प्रकार्य के अतिरिक्त उसका कोई शुद्ध अस्तित्व नहीं है। उसका अस्तित्व प्रकार्यात्मक है, द्रव्यात्मक नहीं।

पुनश्च आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए तीन उपाय हैं। पहला राज्य को प्रगतिशील कराधान की व्यवस्था चलानी चाहिए अर्थात् नागरिकों की आय के अनुसार उनके ऊपर कर लगाया जाना चहिए। दूसरे, नागरिकों को अपरिग्रह का व्रत लेकर उसके पालन में स्वेच्छा से प्रगति करनी चाहिए। तीसरे, समाज में श्रमिकों, कृषकों, शिल्पकारों, व्यवसायियों आदि की श्रेणियाँ या संगठन होने चाहिए और उनके पास इतना धन होना चाहिए जिससे वे अपने शिल्प और व्यवसाय की समुचित व्यवस्था और विकास करते रहें। ये श्रेणियाँ सामाजिक

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शक्तियाँ हैं। इनका दायित्व अपने सदस्यों को रोजगार देना है। ऐसी श्रेणियाँ प्राचीन काल में थी। आज इनका पुनरुद्धार करना है। इस प्रक्रिया में नवीनीकरण भी अपेक्षित है। अतः इन्हें श्रेणियाँ न कहकर व्यावसायिक प्रशिक्षण संस्था का नाम देना है और इनकी व्यवस्था में गुणानुरूप सुधार करना है।

४. अहिंसा की प्रतिष्ठा

अहिंसा जैनदर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। उसमें अहिंसा की ऐसी व्यापक परिभाषा की गयी है कि समस्त सद्गुण या मूल्य अहिंसा के ही विकास सिद्ध होते हैं। अहिंसा का अर्थ जीव-हिंसा से विरमण ही नहीं किन्तु जीवन से प्रेम करना भी है। हिंसा समाज की आत्मघाती बुराई है। उसके बढ़ते रहने से समाज का अस्तित्व ही नष्ट होने लगता है। वह मानव-समाज को बर्बर या जंगली बना देती है। उसके रहते मात्स्यन्याय तथा अराजकता रहते हैं। अतः सभ्यता हिंसा के परित्याग से आरम्भ होती है। ज्यों-ज्यों हिंसा छूटती है त्यों-त्यों अहिंसा का विकास होता है। पूर्ण अहिंसा की स्थापना से वैरत्याग हो जाता है। शत्रुभाव नष्ट होता है, मित्र भाव प्रकट होता है। ये सभी गुण सभ्य समाज के लक्षण हैं, इसलिए कहा जाता है कि अहिंसा पर ही सभ्य समाज प्रतिष्ठित है। अहिंसा का पालन करने के लिए समाज की स्थापना नहीं होती, वरन् इस नीति की भी स्थापना होती है जो उस समाज की अतिजीविता का हेतु है। यह नीति चार प्रकार की है, साम, दान, दण्ड और भेद। इनसे भिन्न युद्ध है जो वस्तुतः नीति की असफलता और बर्बरता की वापिसी है। इसलिए राज्य-संचालन के लिए साम, दान, दण्ड और भेद, इन चार नीतियों का ही प्रयोग होना चाहिए और हर संभव प्रकार से युद्ध को रोकने का प्रयास करना चाहिए। जिस राज्य में केवल दण्ड और भेद के सिद्धान्तों का पालन होता है वह जघन्य है। इसके साथ उसमें शान्ति (साम) और समवितरण (दान) के सिद्धान्तों का पालन भी अपेक्षित है।

५. अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा

अनेकान्त की प्रतिष्ठा समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि समाज की अनेक बुराइयाँ तथा विविध प्रकार की हिंसाएँ एकान्तवाद को मानने के कारण होती हैं। एकान्तवाद का अर्थ है विचार की एक अति। जो लोग सोचते हैं कि उनका मत ही एकमात्र सत्य है और अन्य मनुष्यों के मत असत्य हैं, उनका मत एक अन्त या अति है। उससे कट्टरता धर्मान्धता, असहिष्णुता तथा हिंसा उत्पन्न होती है। विभिन्न धर्मों के पारस्परिक संघर्ष और विभिन्न विचारधाराओं के विवाद इसके उदाहरण हैं। इन संघर्षों और विवादों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए अनेकान्तवाद आवश्यक है जिसके अनुसार प्रत्येक मत या विचार किसी सन्दर्भ—विशेष में ही सत्य होता है और वह निरपेक्ष सत्य नहीं है। सभी सत्य सापेक्ष सत्य हैं। अतएव उन सब का सामंजस्य हो सकता है। अथवा वे सभी अपने-अपने अनुयायियों के लिए सत्य हो सकते हैं। इस प्रकार विभिन्न मतों की सहस्थिति संभव ही नहीं किन्तु अपेक्षित भी है, ऐसा मानना अनेकान्तवाद है। स्पष्ट है कि अनेकान्तवाद प्रत्येक मनुष्य को नम्रता सहिष्णुता, उदारता और करुणा की शिक्षा देता है। इनके बिना समाज की विविधता जी नहीं सकती। इसलिए अनेकान्तवाद समाज की आवश्यक प्रागपेक्षा या प्रतिष्ठा है। वह अहिंसा का भी आधार है। इसलिए निष्कर्षतः कहा जाता है कि विचार में जो अनेकान्तवाद है वही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार में अहिंसा है। अहिंसा और अनेकान्तवाद एक-साथ चलते हैं, दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

६. मानव की प्रतिष्ठा

जैनदर्शन मानववादी है। इसके कई अर्थ हैं। पहला, वह मनुष्य से उच्चतर किसी प्राणी को नहीं मानता है। ६३ शलाका-पुरुष जैनधर्म के आदर्श हैं। इनमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव, नौ वासुदेव या अर्धचक्रवर्ती और नौ प्रति-वासुदेव आते हैं। ये सभी मनुष्य हैं। मनुष्य से भिन्न कोई ईश्वर या परमात्मा है—ऐसा जैनदर्शन नहीं मानता। दूसरे, वह प्रत्येक मनुष्य की आत्मा को स्वतंत्र सत् मानता है और अनेक के अस्तित्व में विश्वास करता है। वह सर्वेश्वरवादी तो नहीं है, क्योंकि मानव आत्माओं के अतिरिक्त अन्य जीवों की आत्माओं को भी वह मानता है। वस्तुतः उसे सर्वात्मवादी (पैन साइकिज्म) कहा जाता है। परन्तु इन सभी आत्माओं में मानव-आत्माएँ श्रेष्ठ हैं। तीसरे, मानव-आत्माओं में भी श्रेष्ठता का तारतम्य है। नैतिक और सामाजिक सिद्धान्त के रूप में जैनमत मानववाद को गहराई से स्वीकार करता है। वह मानव के सद्गुणों के विकास पर बल देता है।

पुनश्च मानववादी होते हुये भी जैनमत जड़वादी या लोकायतवादी नहीं है। उलटे उसने लोकायतवाद का खण्डन करके सिद्ध किया कि जीव या जीवात्मा अजीव या जड़ से भिन्न है, क्योंकि उसका लक्षण चैतन्य है। जीव ज्ञानवान्, इच्छावान् और क्रियावान् है। अजीव ऐसा नहीं है। मनुष्य के अतिरिक्त भी जीव हैं किन्तु मनुष्य सभी जीवों में श्रेष्ठ है क्योंकि उसमें बुद्धि और मुमुक्षा है जो अन्य जीवों में नहीं हैं। प्रत्येक मनुष्य का विकास हो सकता है। बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा—ये तीन मनुष्य के विकास की अवस्थाएँ हैं। जन्म से प्रत्येक मनुष्य बहिरात्मा है। साधना से वह क्रमशः अन्तरात्मा और परमात्मा होता है। परमात्मा होना ही प्रत्येक मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य है। इस तरह जैनमत के अनुसार प्रत्येक मनुष्य में परमात्मा का सामर्थ्य है। किन्तु यहाँ परमात्मा का अर्थ जगत् का कर्त्ता या पिता नहीं है। कोई भी मानव परमात्मा हो सकता है और परमात्मा अनेक हैं। परमात्मा महान् आत्मा है। वह आदर्श मानव है।

जैनमत यद्यपि वर्ण-व्यवस्था और जातिवाद को अनेकान्तवाद के आधार पर उदारतापूर्वक और सहिष्णुतापूर्वक स्वीकार करता है तथापि वह वर्ण और जाति को सिद्धान्ततः अस्वीकार करता है। वह जन्मना वर्ण और जाति के पक्ष में नहीं है। कर्म के आधार पर वह जाति और वर्ण को व्यवहार में स्वीकार करता है। परन्तु सिद्धान्ततः वह मनुष्यों में अध्यात्म के आधार पर केवल दो भेद करता है। ये दो भेद हैं—श्रावक और श्रमण। श्रावक गृहस्थ होता है और श्रमण विरक्त। श्रमण ऊर्ध्वरेता और महाव्रती होता है; श्रावक लोककर्मी और अणुव्रती होता है। इस प्रकार श्रावक और श्रमण दोनों की अलग-अलग संस्थाएँ या परिपाटियां हैं।—श्रमण की संस्था श्रावक की श्रद्धा और आस्था के लिए आवश्यक है। समाज में सदाचार की प्रतिष्ठा करना ही श्रमण का लक्ष्य होता है। वह धर्म के समस्त सद्गुणों की मूर्त्ति है। उसके चारित्र के दीप से ही प्रत्येक श्रावक का चरित्र-दीप जलता है। यही कारण है कि श्रमणों की लोक-यात्रा के लिए श्रावकों को ध्यान रखना पड़ता है। श्रमण श्रावक-हितकारी होता है और श्रावक श्रमणोपासक होता है। यही दोनों

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध से प्रत्येक श्रमण श्रावकमात्र के लिए वन्दनीय है। राजा, प्रशासक व्यापारी, आचार्य, शिल्पी, श्रमिक—ये सभी श्रावक हैं। श्रमण का स्थान इनसे उच्चतर है। ये श्रमण का स्थान नहीं ले सकते हैं। उसके समान इनकी दीप्ति और गरिमा भी नहीं हो सकती है। श्रमण लोक का प्राणी होता हुआ भी वस्तुतः लोकोत्तर है। वह विग्रहवान् धर्म है। वह समाज की आत्मा है। जिस समाज में श्रमण-परम्परा जीवित रहती है उसका कभी नाश या उच्छेद नहीं हो सकता है।

श्रमण-परम्परा वर्णव्यवस्था और जाति-व्यवस्था से भिन्न है। श्रमण ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र से उच्चतर तथा श्रेष्ठतर है। किसी भी वर्ण या जाति का सदस्य प्रयत्न करने पर श्रमण हो सकता है। यही श्रमण मध्ययुग में संत के नाम से जाना गया है। कुछ लोग इसी को 'निरगुनिया' कहते हैं, क्योंकि वह सगुण ईश्वर के स्थान पर निर्गुण सत् का मनन-ध्यान करता है। कुछ भी हो, भारतीय समाजदर्शन में जैनमत का इतना स्थायी प्रभाव पड़ा है कि श्रमण या संत ही यहाँ सर्वश्रेष्ठ मानव माना जाता रहा है। जो लोग सोचते हैं कि भारतीय समाज-दर्शन में सर्वोच्च स्थान ब्राह्मण का है, वे वस्तुतः भारतीय समाज-व्यवस्था को नहीं जानते हैं; उन्हें श्रमण-परम्परा या संत-परम्परा का कोई ज्ञान नहीं है। ब्राह्मण से भी श्रेष्ठ या महान् श्रमण या संत है। यह श्रमण—व्यवस्था या संत-व्यवस्था वर्णव्यवस्था के साथ जुड़ी हुई है और वर्णव्यवस्था को मर्यादा के अन्दर रखने में कारगर सिद्ध हुई है। श्रमणों या संतों ने इसी कारण जाति-व्यवस्था या वर्ण-व्यवस्था का खण्डन भी किया है। किन्तु इस खण्डन का तात्पर्य यह नहीं है कि वर्णव्यवस्था निराधार है। इसका तात्पर्य है कि वर्ण-व्यवस्था के साथ श्रमण-व्यवस्था का चलना आवश्यक है जिससे सर्वोच्च पद तक सभी मनुष्यों की पहुँच संभव हो सके। धन या पद से कोई महान् नहीं बनता है। केवल चरित्र से ही लोग महान् बनते हैं। इस प्रकार जो महान् हो जाय वही आदर्श मानव, संत या श्रमण है। श्रमण-व्यवस्था और वर्ण-व्यवस्था एक-दूसरे की पूरक हैं। यही नहीं, एक के विना दूसरो जीवित नहीं रह सकती। इसीलिए दोनों व्यवस्थाओं में अविनाभाव-संबन्ध है।

उपसंहार में कहा जा सकता है कि संपूर्ण विश्व में जैन-समाज-दर्शन इहलोकवाद (सेक्यूलरिज्म) का प्रथम दर्शन है। जब कभी बृहत्तर मानव समाज इहलोकवाद को स्वीकार करेगा तब उसका प्रारूप वही होगा जिसकी संकल्पना जैनदार्शनिकों ने की है। क्योंकि इसमें लौकिक और आध्यात्मिक मूल्यों का परस्पर पूर्य-पूरक भाव स्वीकारा गया है। इस समाज-दर्शन को लोकायतवाद से भिन्न करने के लिए लोकायनवाद कहा जा सकता है क्योंकि इसका भी प्रयोजन इस लोक और इसके निवासी का सर्वकल्याण करना है और लोक की गति का संरक्षण करना है। इसलिए लोकायत नहीं किन्तु लोकायन लोक का स्वरूप है।

—अध्यक्ष
दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

□□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org